समकालीन चुनौतियों के सामने हिंदी कविता

दुनिया न कचरे का ढेर कि
जिस पर दानों को चुगने चढा हुआ कोई भी कुक्कुट
कोई भी मुरगा यदि बाँग दे उठे जोरदार
बन जाये मसीहा
....
बड़े-बड़े नाम कैसे शामिल हो गये इस बैंड दल में !
सब चुप, साहित्यिक चुप और कविजन निर्वाक
चिंतक, शिल्पकार, नर्तक चुप हैं
उनके ख़याल में यह सब गप है
मात्र किंवदंती।
रक्तपायी वर्ग से नाभिनाल-बद्ध ये सब लोग
नपुंसक भोग-शिरा-जालों में उलझे।
प्रश्न की उथली-सी पहचान
राह से अनजान वाक रुदंती।

चढ़ गया उर पर कहीं कोई निर्दय,
कहीं आग लग गई, कहीं गोली चल गई। - मुक्तिबोध



संस्कृति मनुष्य के दुख भरे जीवन को मनोरम बनाने का उद्यम करती है। संस्कृति का एक अंग साहित्य है। साहित्य के सवाल मूलत: संस्कृति के ही सवाल होते हैं। संस्कृति हमेशा ही मनुष्य की संवेदनशीलता का हिस्सा रही है। आज भी है। आज एक अंतर भी है। इस अंतर पर ध्यान देना जरूरी है। राष्ट्रीय-अंतर्राष्ट्रीय स्तर पर 'हिटलर' को अपना गुप्त आदर्श माननेवाले लोग, जिनके अब तक छिपे हुए थे दाँत और नाखून, आज संस्कृति का भी नेतृत्व करने की कोशिश कर रहे हैं। वे लोग गुजरात से झज्जर तक, यहाँ से वहाँ तक, संस्कृति की भट्ठी में जिंदा लोगों को जला-जलाकर मार रहे हैं। नागार्जुन चेता गये हैं, 'मायावी हैं, बड़े घाघ हैं, उन्हें न समझो मंद।/ तक्षक ने सिखलाए उनको 'सर्प नृत्य' के छंद।/ अजी, समझ लो उनका अपना नेता था जयचंद। / हिटलर के तंबू में अब वे लगा रहे पैबंद।'1 मदन कश्यप की बात मानें तो, 'उनका दावा है / उन्होंने दुनिया भर की बेहतरी के लिए की हैं / दुनिया भर की हत्याएँ।'2 यह अंतर एक दिन में नहीं आया है। इसका इतिहास है। यह इतिहास सभ्यता के विकास का है। डूब जाने के खतरे को ठीक से समझते हुए, 'परसल माए, पाए तुअ पानि'3 की क्षमायाची सावधानी और श्रद्धा के साथ परंपरा और इतिहास के 'महासागर' और 'पोखर' दोनों में दबे पाँव उतरना जरूरी है। क्षमायाची सावधानी और श्रद्धा मनुष्य की संवेदनशीलता से उत्पन्न होती हैं। आत्म-दृष्टि और विश्व-दृष्टि के जादुई सामंजस्य में आये भारी विचलन से मनुष्य की संवेदनशीलता खतरे में है। मनुष्य के सामने आत्मविसर्जन – चाहे देहांत के रूप में हो या मनांत के रूप में – की स्थिति पैदा हो गई है। विकल्प दो ही हैं ; या तो वह 'ग्लोबल' के महासागर में आत्मविर्सजन करे या 'लोकल के पोखर' में। उपस्थित विकल्पों में उसे आत्मविसर्जन करना ही है। नवल शुक्ल इस तथ्य को पकड़ते हैं, 'वे सवाल पूछ रहे हैं / और, उत्तर, सवाल के रूप में सुन रहे हैं / जवाब देनेवाले / इतनी बार जवाब दे चुके

हैं / कि वे मृत्यु से संतुष्ट हैं / इस तरह का एक अध्याय होता है / इस तरह का एक विसर्जन भी हो सकता है।'4

तीसरा विकल्प मनुष्य के पास आज भी है। अलग बात है कि पिछले दिनों इस तीसरे विकल्प की संभावनाएँ बहुत तेजी से धूमिल हुई हैं। इसलिए तीसरे विकल्प की संभावनाओं को उज्ज्वल बनाने का काम नये सिरे अपेक्षित है। मुक्तिबोध बताते हैं, 'संवेदनशील मनुष्य को जीने के लिए, दो बातें विशेष रूप से आवश्यक हैं। एक तो यह कि सांसारिक क्षेत्र में उसकी सर्वांगीण सामंजस्यपूर्ण उन्नति होती चली जाये ; दूसरे, उसके सम्मुख कोई ऐसा आदर्श हो जिसके लिए वह जी सके या मर सके।'5 दुनिया को एक ध्रुवीय बनाने की जिद के चलते आज मनुष्य के लिए सांसारिक क्षेत्र में न तो सर्वांगीण उन्नति के लिए कोई जगह है न सामंजस्य के लिए। आदर्श समाज में बनता है, इतिहास में जिंदा रहता है और साहित्य में संघनित संवेदना का प्राणरस पाकर सक्रिय और सार्थक होता है। समाज, इतिहास और साहित्य के जटिल संबंधों के गुणसूत्रों की जीवंतता को 'आदर्श' में संगुंफित हुआ देखा जा सकता है। आज समाज को निष्प्राण बनाने की 'सामाजिक प्रक्रिया' जारी है। इतिहास को मारने का इतिहास रचा जा रहा है। साहित्य को अर्थबहुलता के नाम पर अर्थहीन बनाकर मनुष्य की संवेदन-शक्ति की सामाजिक आकांक्षा के स्रोत का ही मुखबंद किया जा रहा है। ऐसे में, मनुष्य के पास जीने-मरने के लायक न कोई आदर्श बचता है और न सर्वांगीण सामंजस्यपूर्ण उन्नति का कोई अवसर। इस दुस्समय में संवेदनशील मनुष्य आत्मविसर्जन से बचे, तो कैसे? इसका जवाब संस्कृति को अपने भीतर संचित कलात्मक अनुभव के बीच से ढूढ़ निकालना है। निश्चित ही इसके लिए एक तरह की राजनीतिक प्रेरणा भी चाहिए। मुक्तिबोध बताते हैं, 'यह कहना बिल्कुल गलत है कि कलाकार के लिए राजनीतिक प्रेरणा कलात्मक प्रेरणा नहीं है, अथवा विशुद्ध दार्शनिक अनुभूति कलात्मक अनुभूति नहीं है – बशर्ते कि वह सच्ची वास्तविक अनुभूति हो छद्मजाल न हो।'6 कहना न होगा कि सच्ची और वास्तविक अनुभूति विरल होती गई है। चारों ओर छद्मजाल का घना कोहरा छाया हुआ है। कोहरा ऊपरी तौर पर आगे बढ़ने से रोकता तो नहीं है, लेकिन भीतरी तौर पर भयभीत अवश्य करता है। दुश्मनों को छिपने के लिए एक ओट देता है। पहले लेखक लिखता था। पाठक उस लिखे को साहित्य बनाता था। अब लेखक को अपने लिखे को साहित्य बनाने के लिए पाठक की जरूरत कम ही पड़ती है। वह सीधे साहित्य लिखता है। यह काम साहित्यकार 'शिखरवाद' के सहारे करता है। इस 'शिखरवाद' का सिक्का साहित्यकारों के अलग वर्ग के बन जाने से चल निकलता है। मुक्तिबोध बताते हैं, कि जिस देश में साहित्यकारों का एक अलग वर्ग होता है, वह देश भयानक विषमताओं से पीड़ित होता है।'7 विषमताओं की जनक इस 'शिखरवाद' से ग्रस्त साहित्य सामाजिक विषमताओं से कैसे लड़ सकता है! इस तरह से सीधे लिखा गया यह साहित्य कम टेढ़ा नहीं होता है। ऐसा साहित्य छद्मजाल को मजबूती ही देता है। पाठकों की सक्रिय भागीदारी के बिना इस छद्मजाल को काट पाना मुश्किल है। पाठकीय सहयोग के लिए पाठक को समझना होगा। उसके लिए साहित्य में सम्मानजनक और समतामूलक स्थान बनाना होगा। साहित्य को पाठक की जरूरत होती है, भक्तों की नहीं। इस समय कविता के कुछ भक्त तो यत्र-तत्र दीख जाते हैं, लेकिन पाठक रूठ गये हैं। पाठक, जिसे पहले सामाजिक भी कहा जाता था और ठीक ही कहा जाता था, तो इस बात से उदासीन ही है कि कहीं कोई पाठ बहुत ही बेसब्री से उसकी प्रतीक्षा कर रहा है। पाठक की इस उदासीनता के लिए कुछ हद तक साहित्य तो जिममेवार है ही पाठक भी कम जिम्मेवार नहीं है। क्या सचमुच साहित्य में पाठकों की प्रतीक्षा का प्रमाण मिलता है? यह भी कि प्रतीक्षित पाठ का अभाव बचे हुए सामाजिकों को कितना सालता है? नवल शुक्ल से सुनें, 'मुझे नहीं मालूम था कि मेरा जीवन / सिर्फ एक काबिल सलाह के लायक बचा था / कि वह इतना क्षतिग्रस्त था कि आवश्यक बिल्कुल नहीं था / इस तरह लोगों ने मुझे एक जीवन से / जीते जी बचा लिया था / जिस कारण मैं बहुत खुश था / और अहसानमंद भी / तकलीफ तो यह थी कि मैं एक कविता सुना रहा था।'8 साहित्य और पाठकों के संबंधों के विभिन्न स्तरों पर छाई जड़ता को दूर करना ही होगा। देवीशंकर अवस्थी बताते हैं, 'साहित्य आज अनेक प्रकार के पाठकों, श्रोताओं को संबोधित करता है। अनेक प्रकार के उद्देश्यों एवं प्रयोजनों के लिए काम करता है। ऐसी स्थिति में इस अनेकधा विभक्त साहित्य के लिए कहना पड़ जाता है कि आज इसकी समीक्षा संभव

है? हम मानते हैं कि संभव तो है, पर जिस नवीन समीक्षाशास्त्र की इसके लिए आवश्यकता है उसे अंशत: समाजशास्त्र की भी कृति होना पड़ेगा। यदि ऐसा न होगा तो हमें समसामयिक साहित्य जैसा है और जैसा होना चाहिए – दोनों के अधिकांश भाग को छोड़ देना होगा। इसीलिए साहित्यशास्त्र एवं समाज-विद्याओं के मध्य एक संयोजन एवं समन्वय की स्थिति विचारणीय है।'9 साहित्य की आलोचना एवं अन्य समाज-विद्याओं के मध्य संयोजन एवं समन्वय की जरूरत आज पहले से कहीं अधिक है। संयोजन एवं समन्वय का यह काम पूरी तरह से व्यक्तिगत स्पर्द्धा और सुविधा के भरोसे नहीं छोड़ा जा सकता है।

दुनिया भर में सामाजिकताएँ उदारीकरण, निजीकरण और भूमंडलीकरण के जिस त्रैत से संघर्ष कर रही है। कहने की जरूरत नहीं कि यह त्रैत विश्व-पूँजीवाद का ही विस्तृत और सम्राज्यवादी रूप है। पूँजीवाद को विचार पसंद नहीं आते हैं। 'विचार का अंत' और 'भाववाद के शुभारंभ' के लिए दोनों लोक के प्रभुओं का गुणानुवाद, कीर्तन-भजन पूँजीवाद को बहुत रास आता है। मुक्तिबोध बताते हैं, 'वैचारिक अराजकता पूँजीवाद के उसी प्रकार हित में है जिस प्रकार घोर अध्यात्मवाद। इन दोनों सिरों को वह बहुत आराम से उदारता के नाम पर अपने में समा लेता है।'10 आज संस्कृति को लेकर बहुत हंगामा खड़ा किया जा रहा है। हमारा सामाजिक समय बहुत ही आत्मविरोधों से भरा समय है। किसी भी महत्त्वपूर्ण विमर्श में सहमति और असहमति दोनों में यह आत्मविरोध देखा जा सकता है। आत्मविरोध पैदा होता है उपस्थित जटिलताओं के सामने उत्प्रेक्षात्मक आत्मसमर्पण से। आत्मविरोध से बाहर निकलने के लिए गहन आत्मसंघर्ष ही सहायक होता है – यह आत्मसंघर्ष तत्त्व के लिए भी जरूरी होता है और रूप के लिए भी। बिना आत्मसंघर्ष के हासिल सहमति और असहमति दोनों ही बेजान होती है। इस असहमत समय में भी कहीं-कहीं सर्वसहमति का भ्रामक माहौल बन गया है। सही बात यह है कि सहमति और असहमति दोनों का भाव और अभाव भ्रमपूर्ण है। इस भ्रमपूर्ण स्थिति में ऐसा सामाजिक संयोग बन गया है कि जिन मुद्दों पर असहमति होनी चाहिए उन पर समर्पणमूलक सर्वसहमति और जिन मुद्दों पर सहमति होनी चाहिए उन पर घनघोर असहमति सक्रिय है। आज के समय में समर्पणमूलक सर्वसहमति और घनघोर असहमति के इस विपर्यय का दुखांत यह है कि समकालीन हिंदी समाज का पदार्थ और कविता का अर्थात ही खो गया है।

समकालीन कविता के बारे में दो विपरीत राय सामने आती है। कुछ लोग समकालीन कविता के परिदृश्य को बहुत ही हताशाजनक बताते हैं तो कुछ लोग इसे बहुत ही उत्साहवर्द्धक और गर्व करने लायक भी बताते हैं। प्रकाशकों से पूछिये तो पता चलता है, कविता के पाठक नहीं रहे। प्रकाशक से ही क्यों, पाठक के अभाव की पुष्टि कवि और कविता दोनों से होती है। कवियों के बयानों और काव्यांशों से ऐसे उदाहरण सहज ही जुटाये जा सकते हैं। कवि-मन में सक्रिय जीवन के प्रति निरर्थकता का बोध कविता को भी निरर्थकता की चपेट में डाल देता है। पुरस्कारों पर नजर डालिये तो अधिकतर पुरस्कार कवियों के खाते में जाते हैं। काव्य-संकलनों के फ्लैप पर नजर डालिये या पुरस्कार समितियों की सम्मतियों का स्मरण कीजिये तो सब कुछ हरा-भरा लगता है। आज की काव्यालोचना को इन दोनों ही तरहों के मंतव्यों के ब्यूह से बाहर निकलना होगा। सचाई का अंश दोनों तरफ है। झूठ का अंश भी दोनों ही तरफ है। दोनों ही मंतव्य आप्तवचन होने के कारण ही प्रमाण-निरपेक्ष बने रहकर ही शिविर में स्वीकृति हासिल करते हैं। 'एक भयानक चुप्पी छाई है समाज पर / शोर बहुत है पर सचाई से कतरा कर गुजर रहा // एक भयानक एका बाँधे है समाज को / कुछ न बदलने के समझौते का है एका '।11 आलोचना के लिए आज बहुत ही जरूरी है कि प्रमाण-निरपेक्ष आप्तवचन के दायरे से बाहर निकलकर प्रमाण-सापेक्ष कथन बनने का साहस जुटाये। आलोचना और साहित्य दोनों को बार-बार ध्यान में लाना होगा कि साहित्य के लिए सबसे अधिक खतरनाक मिलीभगत होता है। कहना न होगा कि साहित्य में इनदिनों मिलीभगत कुछ अधिक ही सक्रिय है। इसी मिलीभगत के कारण समकालीन कविता के अर्थात और समाज के पदार्थ के खोते जाने के मर्म को भेद पाने में आलोचना की विफलता, आलोचना के कारोबार को तो निरर्थक बनायेगी ही, कविता की सामजिकता को भी निरर्थकता के भँवर में

फँस जाने से नहीं रोक सकेगी। समकालीन कविता के अर्थात की तलाश में लगने के पहले कविता के पदार्थ की तलाश जरूरी है। इसके लिए 'कविता क्यों' और 'कविता क्या' जैसे परिचित सवालों से बार-बार टकराना पड़ेगा। यह भी ध्यान रखना होगा कि चूँकि सवाल परिचित हैं इसलिए इनके हासिल जवाब हमें अपनापे से किसी धोखे में न डाल दें। अपने युग में साहित्य के कार्य को चिह्नित करते हुए मुक्तिबोध ने कहा था, 'आज की दुनिया में जिस हद तक शोषण बढ़ा हुआ है, जिस हद तक भूख और प्यास बढ़ी हुई है, उसी हद तक मुक्ति-संघर्ष भी बढ़ा हुआ है, और उसी हद तक बुद्धि तथा हृदय की भूख-प्यास भी बढ़ी हुई है। आज के युग में साहित्य का यह कार्य है कि वह जनता के बुद्धि तथा हृदय की इस भूख-प्यास का चित्रण करे, और उसे मुक्तिपथ पर अग्रसर करने के लिए ऐसी कला का विकास करे जिससे जनता प्रेरणा प्राप्त कर सके और जो स्वयं जनता से प्रेरणा ले सके।'12 आज के निर्विकल्प समय में मुक्ति-संघर्ष ! 'मुक्ति-संघर्ष' के के नाम से भी उन्हें हँसी आती है। यह सार्वजनिक हँसी है। अपने अकेलेपन में वे भी क्या कम डरे हुए हैं? मानव विकास रिपोर्ट -2002 की टिप्पणी के परिप्रेक्ष्य को पकड़ना होगा, 'लोगों को प्रभावित करनेवाले मामले अब सिर्फ राष्ट्र की सीमाओं में सीमित नहीं हैं। एकीकृत दुनिया में लोकतांत्रिक सिद्धांतों का वैश्विक आयाम है, क्योंकि विश्व नेता और शासक राष्ट्रीय नेताओं की तरह ही उनके जीवन को प्रभावित करते हैं। हाल के दिनों में औद्योगिक और विकसित दोनों ही प्रकार के देशों में भूमंडलीकरण विरोधी अभियान में यह नया यथार्थ उभर कर सामने आया है। हालांकि, इनके विभिन्न रूप हैं और विभिन्न कार्यसूचियाँ हैं फिर भी एक बात पर इनमें सहमति है कि विश्व के गरीब लोगों की समस्याओं के लिए विश्व संस्थाएँ और विश्व नेता जबावदेह हैं। इसे आपातकालीन समस्या माननेवाले ये विरोधी अकेले नहीं हैं।'13 अकारण नहीं है कि वर्ष 2001 में अर्थशास्त्र के क्षेत्र में अपने काम के लिए नोबेल पुरस्कार प्राप्त करनेवाले जोसेफ स्टिग्लिज, जो विश्व बैंक के मुख्य अर्थशास्त्री तथा अमरिकी राष्ट्रपति विल क्लिंटन के आर्थिक सलहकार परिषद के अध्यक्ष जैसे महत्त्व के पद पर रह चुके हैं, बहुत भारी मन से स्वीकार करते हैं कि मैंने यह किताब 14 इसलिए लिखी कि विश्व बैंक में काम करते हुए मैंने साक्षात देखा कि भूमंडलीकरण कर नतीजा विकासशील देशों और खासकर उन देशों के गरीब लोगों के लिए कितना मारक हो सकता है। बावजूद इसके, हमारे समय के कुछ महत्त्वपूर्ण लोग सभी प्रकार के द्वंद्व से बाहर, सभी प्रकार की दुविधाओं और बहुधाओं से परे हैं। क्रिया से पहले कार्य का साक्षात करने में सक्षम, आदि-पर्व में ही उत्तर-पर्व के आत्म-ज्ञान से समृद्ध, ये परम प्रतापी अपने आप में परम मुक्त हैं! हमारा काव्य-समय बहुत ही उलझा हुआ है। मोटे तौर पर देखें तो दो विश्वयुद्धों के बीच आजादी के लिए किये गये भारतीय संघर्ष, जिसके दौरान बाह्य और आंतरिक उपनिवेश से मुक्ति की आकांक्षा से आधुनिक राजनीतिक राष्ट्र के रूप में भारत का संघटन हुआ और 1975 में राजनीतिक आपातकाल लागू किये जाने के बाद यह उदारीकरण-निजीकरण-भूमंडलीकरण के जमाने में यह तीसरा सबसे महत्त्वपूर्ण दौर हमारे सामने है। कहना न होगा, इन तीनों ही दौर का मर्म इस देश में जनतंत्र के गठन, संरक्षण और क्षरण की ऐतिहासिक प्रक्रिया से अभिन्न रूप में जुड़ा हुआ है। इन तीनों ही दौर के संचित अनुभव 'जनता की चित्तवृत्ति'15 में होनेवाले बदलाव पर अपना असर डाल रहे हैं। 'जनता की चित्तवृत्ति' में होनेवाले बदलाव का साहित्य पर पड़नेवाले कलात्मक असर को परखना और समझना आज के साहित्य और साहित्यालोचन की बुनियादी साझा जरूरत है। यह निवेदन कर देना जरूरी है कि इस साझा जरूरत के महत्त्व को समझने की प्रक्रिया के प्रारंभ का प्रयास भर यहाँ किया जा रहा है, इसे अकेले पूरा करना संभव नहीं है। यह स्पष्टीकरण अपने काव्य-समय के उलझावों की चपेट में आने से बचने के लिए आत्म-संकल्प भर है।

कविता जिन चुनौतियों का सामना कर रही है उन्हें सिर्फ कविता की चुनौतियाँ मानने से बात गड़बड़ा सकती है। असल में ये चुनौतियाँ समाज की ही हैं। साहित्य की चुनौतियाँ समाज की चुनौतियों से अलग नहीं होती हैं। बल्कि कहना यह चाहिए कि चुनौतियों का सामना करने के लिए समाज के पास तरह-तरह के उपकरण होते हैं। साहित्य भी उन्हीं उपकरणों में से एक है। ये उपकरण आज कितने कारगर रह गये हैं या इन उपकरणों को आज किस तरह प्रभावी और भरोसेमंद बनाये रखा जा सकता है, इन सवालों पर विचार करना और उसे कार्यरूप देना साहित्य की प्रमुख चुनौतियाँ हैं। साहित्य की चुनौतियों पर विचार करते हुए हमारा सामना कुछ अप्रीतिकर सवालों से भी होता है। ये सवाल आरोप-प्रत्यारोप के लिए

नहीं और नहीं किसी को नीचा दिखाने के लिए हैं। कुछ गलतियाँ हम लगातार करते आये हैं। मुक्तिबोध कहते हैं, 'हम केवल साहित्यिक दुनिया में ही नहीं, वास्तविक दुनिया में रहते हैं। इस जगत में रहते हैं। साहित्य पर आवश्यकता से अधिक भरोसा रखना मूर्खता है।'16 मुक्तिबोध की ब्यथा समझनी होगी कि क्यों उनके जैसे साहित्यकार को भी साहित्य पर आवश्यकता से अधिक भरोसा रखना कभी मूर्खता लगा होगा। सवाल चाहे जितने भी अप्रीतिकर क्यों न हों, उन से मुँह चुराने के बजाये हमें शुद्ध मन से कुछ आत्म-स्वीकार करना चाहिए। इस आत्म-स्वीकार से मन और निर्मल होगा, पिछली गलतियों के बोझ से मन हल्का होगा तथा उनके घातक दुहराव से बचा जा सकेगा। रघुवीर सहाय के शब्दों में कहें तो, 'लोकतंत्र का विकास राज्यहीन समाज की ओर होता है / इसलिए लोकतंत्र को लोकतंत्र में शासक बिगाड़ाकर राजतंत्र बनाते हैं।'17 आज के हमारे जनतंत्र में महराजों के कितने प्रकार हैं ! इतने प्रकार तो शायद हमारे राजतंत्र में भी नहीं रहे होंगे ! कहते हैं नवल शुक्ल, 'राजे महराजे होते थे कभी और अब इतिहास में / और अब कथाओं में / पर ये संबोधन अभी भी हैं / जिसे नपुंसक और मतलब परस्त दोहराते हैं / पर ये तुम्हारे साथ नहीं हैं / ये किसी के साथ नहीं होते / ये तुम्हारी नागरिकता पर पर्दे डालते हैं / ये तुम्हारी वंचना को बढ़ाते और नागरिकता को कम करते हैं। / .../ तुम व्यवस्था पर नागरिक का आतंक नहीं हो।'18 एक स्वस्थ नागरिक मन विकसित हो यह आज साहित्य की मुख्य चिंता होनी चाहिए। जगत के मेला में, इस स्वस्थ नागरिक मन की खोज में अनूप कुमार सेठी कविता की बीमारी पकड़ लेते हैं। 'मैं शायद बीमार हूँ / पीलिया है रतौंधी है या गठिया है / ठीक-ठीक कुछ पता नहीं // अयोध्या की खुदी हुई जमीन हूँ / दिल्ली के उजड़े हुए सिख की विधवा हूँ / श्रीनगर का डोलता शिकारा हूँ या / किसी गाँव कस्बे महानगर का घिघियाता हुआ नागरिक हूँ / निश्चित कुछ पता नहीं'19। मुक्तिबोध ने ध्यान दिलाया था, 'साधारणत:, यह देखा गया है कि हमारा लेखक प्रारंभिक प्रयत्नों के अनंतर, प्राप्त हुई अपेक्षित ख्याति के उपरांत, आर्थिक सुसज्जता, ऊपरी पॉलिश और अच्छी जिंदगी बसर करने की ओर प्रवृत्त होकर, ऊँचे प्रकाशकों, ऊपरी अधिकारियों, श्रेष्ठ संपर्कों और शक्तिशाली तत्त्वों से गाढ़ संसर्गों को प्राप्त करने के लिए छटपटाता रहता है। यही वह आधार-भूमि है जहाँ वह वैयक्तिक स्वातंत्र्य का प्रयोग करता है। इस प्रकार के जीवन में उन्हें उसे अनेक प्रकार की सफलताएँ और असफलताएँ होती है। यही नहीं जो संसर्ग और संपर्क प्राप्त होते हैं, वे इतने आत्मीय नहीं हो पाते कि मन की तृप्ति हो। मन को न केवल प्रेम चाहिए, उसे एक ऐसी दिशा भी चाहिए कि जिस ओर वह जिंदगी मोड़ सके। बस, यही नहीं हो पाता , वह दिशा नहीं मिल पाती। फलत: उन संसर्गों और संपर्कों को बनाये रखने के लिए, श्रेष्ठ और उत्तमों की बैठकों में आने-जाने के लिए, उन में से एक बनने के लिए, वह चाहे जो करता है। हिंदी के साहित्य क्षेत्र में, एक लंबे अर्से से दो विशेष वर्ग काम करते आ रहे हैं। एक को हम कहेंगे सुसंपन्न उच्च-मध्यवर्ग, और दूसरे को हम कहेंगे गरीब निम्न-मध्यवर्ग। इस सुसंपन्न मध्यवर्ग ने हिंदी साहित्य में बहुत-कुछ काम किया है। पंत, प्रसाद आदि इसी सुसंपन्न मध्यवर्ग की प्रगाढ़ छाया-माया के अंग थे। किंतु प्रेमचंद नहीं। प्रेमचंद और नंददुलारे वाजपेयी के बीच जो विवाद चल पड़ा था, वस्तुत: वह दो विपरीत प्रवृत्तियों, दो विपरीत रुखों, दो विपरीत रवैयों दो प्रतिकूल दृष्टिकोणों, की आपसी लड़ाई थी। नंददुलारे वाजपेयी और प्रेमचंद की मुठभेड़ विचारधारागत थी। प्रेमचंद की जनतांत्रिक मनोधारा भारतीय संस्कृति के सौंदर्यलोक में पलनेवाले आध्यात्मिक माया-स्वप्नों से अनुस्यूत कलावाद से टकरा जाती थी। वाजपेयी और प्रेमचंद का झगड़ा आकस्मिक नहीं था। वह प्राकृतिक और अनिवार्य था। किंतु आज के हमारे निम्न-मध्यवर्गीय लेखक लोग, अपने ही दरिद्र बंधु-बांधवों को तलाक देकर, उनके अपने वर्ग का त्याग करने के लिए उत्सुक रहते हैं। वे शीघ्रातिशीघ्र एरिस्ट्रोकेटिक पश्चिमीकृत संस्करण बनाना चाहते हैं। यह हाल, खास तौर से, बड़े शहरों के निम्न-मध्यवर्गीयों का है। वे अपनी आधार-भूमि को छोड़कर पराई आधार-भूमि पर स्थित होना चाहते हैं। उच्च-मध्यवर्गीयों की जीवन-प्रणाली के प्रति उनके अंत:करण में लोभ-लालसा जगी रहती है। आश्चर्य की बात है कि बहुतेरे ख्यातिप्राप्त प्रगतिशील, लेकिन एक जमाने के निम्न-मध्यवर्गीय, लेखकों ने भी वही एरिस्ट्रोक्रेटिक जिंदगी अपना ली है। उन्होंने अपने वर्ग का त्याग कर दिया है। इस अभिशाप से कोई बचा नहीं है। ऐसी हालत में, उनकी प्रगतिशील भाव-धारा, केवल देव-पूजा की भाँति, आध्यात्मिक और कृत्रिम हो जाती है – भले ही वे अपनी शब्द-क्रीड़ाओं में प्रगतिशील

भावनाओं का दीपक जगायें। उन्होंने अपने ही वर्ग की जनता का त्याग कर दिया है। यही कारण है कि उनकी प्रगतिशील भाव-धारा यांत्रिक है, कृत्रिम है, देव-पूजा के मंत्रों के समान है। उनके अपने साहित्य में निम्न-मध्यवर्ग का चित्रण होते हुए भी उसमें जान नहीं है।'20 हमें इस अभिशाप से बचना है। बिना बचे हमारे साहित्य में जान नहीं आ सकती है। कृत्रिमता से मुक्ति नहीं मिल सकती है। मुक्ति अकेले में नहीं मिलती है। मुक्ति के लिए चाहिए जन-लेखकों का संयुक्त मोर्चा और संगठन। इसमें बाधा कया है? नामवर सिंह बताते हैं, 'टुटपुँजिया मध्यवर्गीय जलन अक्सर आपसी वैमनस्य को भड़काती रहती है जिसके कारण लेखकों के बीच न कोई संयुक्त मोर्चा बन पाता है और न संगठन ही चल पाता है। जन-लेखकों का निर्माण, निश्चय ही, जन-संघर्षों और आत्म-शिक्षा की दीर्घ प्रक्रिया है, किंतु राजनीतिक लाइनों पर की जानेवाली दिमागी कसरत से कहीं अधिक सर्जनात्मक है। क्या आज के अग्निवर्षी लेखक इस कठोर अग्निदीक्षा के लिए तैयार हैं? '21 आज ये सवाल 'अग्निवर्षी लेखकों' से ही नहीं 'तुषराद्रि-संकाश-गौर-गंभीर लेखकों' से भी है कि क्या उनका लेखन साहित्य की किसी भी तरह की सामाजिक सार्थकता को बचा पाने में सक्षम है? शंभुनाथ के निष्कर्ष से हमारे मन में और सवाल उठने चाहिए, 'कुछ कवियों को हिंदी में विश्व कविता लिखने का चस्का लग गया। जनता से संवाद करने का विचार लेकर कविता लिखने की आदत पहले ही छूट चुकी थी। उन्हें अच्छी तरह पता चल गया था कि हिंदी समाज में भजन-कीर्त्तन, नाच-तमाशा, खाने-पीने के संस्कार खूब हैं, पर काव्यात्मक संस्कार नदारद हैं। इसलिए सिर्फ कवियों से संवाद के उद्देश्य से कविता लिखने की प्रवृत्ति ने ऐसे कवियों में विश्व कविता लिखने की महत्त्वाकांक्षा भी पैदा कर दी। कविता के निजीकरण के साथ-साथ विश्वीकरण का उफान पैदा हुआ। पिछले पचास सालों की अच्छी कही जानेवाली हिंदी कविताओं में से एक बड़ा हिस्सा ऐसा है, जिनका भारतीय दुनिया की विशिष्टताओं और विडंबनाओं से कोई संबंध नहीं है।'22

आज तो कहते हैं विनोद कुमार शुक्ल, 'घर के लोगों से घर का संबंध नहीं / तथा यह सामाजिक समाज नहीं।'23 कैसा समाज बना डाला है, हमने ! कहते हैं मंगलेश डबराल, 'जिसने कुछ रचा नहीं समाज में / उसी का हो चला समाज / वही है नियंता जो कहता है तोड़ूंगा अभी और भी कुछ / जो है खूंखार हँसी है उसके पास / जो नष्ट कर सकता है उसी का है सम्मान / झूठ फिलहाल जाना जाता है सच की तरह'24। रंग का दोष नहीं। भाषा में काला अशुभ का सूचक है। वीरेन डंगवाल समाज में अशुभ के वर्चस्व का सवाल संवेदनशील ढंग से उठाते हैं, 'पर हमने यह कैसा समाज रच डाला है / इसमें जो दमक रहा, शर्तिया काला है / वह कत्ल हो रहा, सरेआम सड़कों पर / निर्दोष और सज्जन, जो भोला-भाला है // किसने ऐसा समाज रच डाला है / जिसमें बस वही दमकता है, जो काला है? '25 आखिर झूठ को सच बनाने से हासिल हुए 'दमक' से साहित्य और संस्कृति के नक्षत्र भी क्या कम दैदीप्यमान हैं! एक सच की स्वीकृति का साहस 'हम' में है तो दूसरे की शिनाख्त की जरूरत का मर्म 'किस' में है। परंपरा में अच्छाई भी है और बुराई भी। सवाल यह है कि हम चुनते क्या हैं। नीलेश रघुवंशी बताती हैं, 'माँ पिता की यात्रा को जानती है / इसलिए कभी नहीं पूछती कैसा रहा सफर ।'26 और यह भी, 'माँ नहीं पहचानती अक्षर / नहीं जानती लिखना-पढ़ना / कैसे फिर / पहचान लेती है नोट / आकार से या रंग से या / पिता के पसीने की गंध से । // आता है जिस दिन एक नीला नोट / माँ की आँखों में तैरती है / पिता की फटी बनियान पसीने से तर-ब-तर / सहलाती है नोट को / सहलाती हो जैसे पिता की पीठ। // पिता और नोट के बीच / सफर करते हैं माँ के तंगहाल सपने / नोट को तुड़ाते हुए हर बार / हिचकिचाती है माँ।'27 पिता परंपरा हैं तो पिता की तस्वीर उस परंपरा का इतिहास। आगे का रास्ता तय करने के लिए परंपरा में निहित 'जो है, उससे बेहतर'28 का स्वप्न चाहिए होता है, नींद नहीं। मंगलेश डबराल पिता की तस्वीर की सीख को शब्द देते हैं, 'मेरी अच्छाई ले लो उन बुराइयों से जूझने के लिए / जो तुम्हें रास्ते में मिलेंगी / मेरी नींद मत लो मेरे सपने लो।'29 लेकिन हमने नींद ही ली, सपने नहीं ! बताते हैं नवल शुक्ल, 'जैसे बिना सपने की नींद / बिना बादल के आकाश / बिना दूब की धरती / बिना लहरों का जल / वैसे ही इन दिनों मैं। // मेरे पास भाषा का पर्दा हट रहा है / और मैं अचंभित होता हूँ / जैसे मनुष्य की भाषा से / विज्ञापन की भाषा में जा रहा हूँ।'30 ऐसे में, राजेश जोशी कहते हैं, 'जैसे जैसे बढ़ती जाती है उम्र / छोटी हो रही है नींद // देहरी पर खड़ा आने आने को होता है

कोई स्वप्न / कि आधी रात अधबीच खुल जाती है नींद // जो मेरी नींद में आने को ही निकला था / वो स्वप्न / न जाने कहाँ, किन सड़कों पर भटक रहा होगा इस वक्त / हो सकता है सर्दी की इस ठिठुरती रात में उसने / किसी और की नींद का दरवाजा खटखटाया हो / कहा हो : कृपा करके मेरी बात सुनें / बात यह है कि मैं तो राजेश जोशी की नींद में जाने को / निकला था पर क्या करूँ उसकी नींद तो आधी रात को / अधबीच ही खुल गई ..../ उम्र के साथ ऐसा हो जाता है / पर अब मैं समझ नहीं पा र हा हूँ कि मैं रात कहाँ बिताऊँ / अगर आपकी नींद में कोई स्वप्न न हो तो / कृपा करके मुझे अपनी नींद में आने दीजिए // यह भी हो सकता है कि वो हिचक रहा हो / किसी और की नींद में जाने से // होने को कुछ भी हो सकता है अनंत संभावनाएँ हैं / हो सकता है वो कहीं न गया हो / लौट गया हो फिर किसी रात आयेगा // उम्र की इस दुर्घटना में यह भी हो सकता है / एक स्वप्न मर गया हो शायद! '31 जब सपने मर जाते हैं आदमी नींद में चलने लगता है। यह बात दीगर है कि 'नींद में चलनेवाले को नहीं पता कि उसे / नींद में चलने की आदत है // नींद में चलनेवाला आदमी आधी रात में उठता है / घर भर की सारी बत्तियाँ जला देता है / बाहर का दरवाजा खोल / निकल जाता है सुनसान सड़क पर / सचमुच की सड़क पर भी वो इस तरह चलता है / जैस चल रहा हो सपने की किसी सड़क पर / कह सकते हैं इस समय वो आधा स्वप्न में है / और आधा यथार्थ में // कौन कह सकता है कि नींद में चलनेवाला आदमी / कब किस दिशा में निकल जायेगा / वो किस के दरवाजे पर दस्तक देगा किसकी कुंडी खटखटाएगा / न जाने किन लोककथाओं के कौन से पात्र मिलेंगे उसे रास्ते में / वो न जाने किन किन छूटी हुई जगहों पर जायेगा / उसकी बेचैन आत्मा न जाने कहाँ कहाँ भटकायेगी उसे // न जाने कौन कौन से अधूरे सपने हैं / जिन्हें ढूढ़ता नींद में ही निकल आया है वो सड़कों पर / पता नहीं कौन से तनाव हैं कि नींद में भी चैन नहीं उसे // इस समय जब आधी रात ढल चुकी है वो सड़क पर है / उसका माथा चाँद के इतना करीब है कि कभी कभी / जब उसके बाल हवा में उड़ते हैं / तो चाँद को छिपा लेते हैं अपनी ओट में / नींद में चलनेवाले आदमी के कंधे पर एक बादल / इस तरह टिका है / जैसे कोई बाज उसके कंधे पर बैठा हो / वो आसपास के हर दृश्य से बेखबर है / कोई भी आवाज उसके कानों तक नहीं पहुँच रही है // इस समय अगर वो अचानक जाग जाये तो क्या होगा ! / उसकी पुतलियों में सोती धूप के टुकड़े / यहाँ वहाँ बिखर जायेंगे // नींद में चलता हुआ वो गुजर जायेगा / हमारे सपने से / संशय से देखेंगे हम कि कहीं वो आइना तो नहीं / कहीं वो हमीं तो नहीं हैं / नींद में चलते हुए! '32 चेताती हैं नीलेश रघुवंशी, 'आयेंगे हत्यारे / और गायब हो जायेंगे / पल भर में जुगनू की तरह हँसते-गाते दिन। //.. /होते हैं हत्यारे फिराक में /नई-नई इच्छाओं के नये-नये स्वपनों के। / एक दिन सारे उत्सव और त्यौहार / होंगे हत्यारों की झोली में ।'33 बहुत ठीक कहते हैं वीरेन डंगवाल, 'याने साधन तो सभी जुटा लिए हैं अत्याचारियों ने / मगर जीवन हठीला फिर भी / बढ़ता ही जाता आगे / हमारी नींद के बावजूद'।34 ऐसे कठिन समय में देखते हैं नवल शुक्ल, 'नींद के बाहर / लोकतांत्रिक रास्तों और जगहों पर / मुस्कुराते, ठहाके लगाते मिलते हैं चोर / मैं खौफजदा, उनसे आँखें चुराता मिलता हूँ // इस तरह रोज-रोज की हार में / रोज-रोज जीतता हूँ जीवन / और बचाता हूँ अपनी जीत में / जीवन की हार।'35

आज सभ्यता के संघात की बात चर्चा में है। सभ्यता के संघात के केंद्र में धर्म है। धर्म के केंद्र में इस या उस रूप में ईश्वर है। विनोद कुमार शुक्ल कहते हैं, 'ईश्वर अब अधिक है / सर्वत्र अधिक है / निराकार साकार अधिक / हरेक आदमी के पास बहुत अधिक है।'36 नवल शुक्ल बता रहे हैं, 'मुझे उसमें कुछ ईश्वर सा लगा था / जब पुलिस को देखते ही भाग जानेवाली / ताले-चाबी के सामने मैं ढह गया था / उस दुकान को देखते हुए / प्रभु के दरबार में कुछ माँगने की इच्छा से / उसे जाँच रहा था / कि वह नाराज न हो जाए या / ताला-चाबी समेट कर भाग ही न जाए। // मुझमें अभी भी चेतना थी / मुझे हजारों हजार लोग दीख रहे थे / मालूम नहीं, मेरी मुश्किल थी कि नहीं / सब ईश्वर की तरह दिख रहे थे / मैं सबके पास जाना चाह रहा था / पर सब व्यस्त थे / फिर भी अटूट विश्वास था / कि मैं हूँ, मेरे सामने सड़क है, उसे पार करना है / तो मेरी सहायता को तत्पर अवश्य होगा ईश्वर / मैं एक आटो रिक्शा तक घसीटता हुआ पहुँचा / रास्ता बताया / उसने कहा दस रुपये लगेंगे // ईश्वर से हील-हुज्जत कैसी / मैं बैठ गया / आखिर वह मिल गया।'37 ईश्वर सब को अपनी शरण में लेता है। जो बच

जाते हैं खुशकिस्मत होते हैं। वे कह सकते हैं, 'मेरी खुशकिस्मती है / मैं ईश्वर से खुशामद नहीं करता / मुझे चालाक नहीं कहा जाता // मैं नाराज हूँ / इसलिए भी कि भी / मुझे रोज / गढ्डा खोदकर पानी पीना आ गया / निजाम नहीं माँगता कभी न चाहिए उससे यह कभी / एक नौकरी से काम चल जाता है // ऊपरवाले से मेरी नाराजगी निर्विरोध है।'38 प्रमोद कौंसवाल अपने रास्ते और रास्ते में पड़नेवाले मंदिर के पास गड्ढों को ध्यान से देखते हैं, 'जिन भी गड्ढों में हम गिरते हैं / उन पर बात अक्सर कम करते हैं / मुझे हर सुबह एक गड्ढा तो / मंदिर के सामने ही मिलता है / मैं स्कूटर से जाता हूँ। और / उससे अभी तक बचा हूँ //गड्ढों में फँसकर / गड्ढों में धँसकर /गड्ढों से बचकर / जो भी बातें संभव हैं / गड्ढों के आससपास हैं।'39 'होगी जय, होगी जय, हे पुरुषोत्तम नवीन'40 तो निराला ने भी कहा था। इससे आतंक नहीं बढ़ा था तो इसलिए कि पुरुषोत्तम नवीन की जय में आम लोगों की जय भी समाहित थी। आज लगाये जा रहे 'जय श्रीरामक के नारे से आतंक बढ़ रहा है तो इसलिए कि 'श्री राम की जय' से आम लोगों की जय को काटने में आज के रावण सफल हो गये हैं ! इससे खुश और ताकतवर सिर्फ आज के रावण हो रहे हैं। आम आदमी के साथ-साथ कमजोर और आहत राम भी हुए हैं। फिर निराला को याद करते हुए 'हत्-कार्यक राम का विकल रुदन वीरेन डंगवाल सुनाते हैं, 'फिर भी क्यों लगता था बार-बार / आता हो जैसे, आता हो जैसे / किसी घायल हत्-कार्य धनुर्धारी का / भिंचा-भिंचा विकल रुदन। // लेकिन / वह एक और मन रहा राम का / जो / न थका। / जो दैन्यहीन, जो विनयहीन / संशय-विरहित, करुणा-पूरित, उर्वरा धरा सा / सृजनशील, संकल्पवान / जानकी प्रेम प्रिया का भरे जिसमें उजास / अन्यायक्षुब्ध कोटिश: जनों का एक भाव / / जनपीड़ा-जनित प्रचंड क्रोध / भर देता जिसमें शक्ति एक / जागरित सतत ज्यातिर्विवेक। / वह एक और मन रहा राम का / जो न थका। // इसीलिए रौंदी जाकर भी / मरी नहीं हमारी अयोध्या / इसीलिए हे महाकवि, टोहता फिरता हूँ मैं इस / अंधेरे में / तेरे पगचिह्न।'41 तो क्या वही दमकता रहेगा जो काला है? क्या हम नींद में ही चलते रहेंगे? क्या उजले दिन नहीं आयेंगे ? फिर निराला को याद करते हुए भरोसा दिलाते हैं वीरेन डंगवाल, 'आयेंगे उजले दिन जरूर आयेंगे // आतंक सरीखी बिछी हुई हर ओर बर्फ / है हवा कठिन ठिठुराती / आकाश उगलता अंधकार फिर एक बार / संशय-विदीर्ण आत्मा राम की अकुलाती // होगा वह समर, अभी होगा कुछ और बार / तब कहीं मेघ ये छिन्न-भिन्न हो पायेंगे। // तहखानों से निकले मोटे-मोटे चूहे / जो लाशों की बदबू फैलाते घूम रहे / हैं कुतर रहे पुरखों की सारी तस्वीरें / चीं-चीं, चिक्-चिक् की धूम मचाते घूम रहे // पर डरो नहीं, चूहे आखिर चूहे ही हैं, जीवन की महिमा नष्ट नहीं कर पायेंगे। // यह रक्तपात यह, यह मारकाट जो मची हुई / लोगों के दिल भरमा देने का जरिया है / जो अड़ा हुआ है हमें डराता रस्ते में / लपटें लेता घनघोर आग का दरिया है // सूखे चेहरे बच्चों से उनकी तरल हँसी / हम याद रखेंगे पार उसे कर जायेंगे। // मैं नहीं तस्सली झूठ-मूठ की देता हूँ / हर सपने के पीछे सच्चाई होती है / हर दौर कभी तो खत्म हुआ ही करता है। हर कठिनाई कुछ राह दिखा ही देती है। // आये हैं जब चलकर हम इतने लाख वर्ष / इसके आगे भी तब चलकर जायेंगे, / आयेंगे, उजले दिन जरूर आयेंगे।' 42

ये उजले दिन क्या यूँ ही आ जायेंगे? हमारी नींद के बावजूद ! घनीभूत और संगठित होगी वेदना। यह प्रागैतिहासिक रात बीतेगी। शशधर-तारा विहीन ऐसी अमानिशा में नींद भी कहाँ आती है! ऐसी अमानिशा को चीरते हुए जिंदगी की गाड़ी में जारी सफर के बीच अपने मित्र मंगलेश डबराल को संबोधित करते हैं वीरेन डंगवाल, 'रात चूँ-चर्र-मर्र जाती है / ऐसी गाड़ी में भला नींद कहीं आती है ? // इस कदर तेज वक्त की रफ्तार / और ये सुस्त जिंदगी का चलन / अब तो डिब्बे भी पाँच ऐसी के / पाँच ठुंसा हुआ सारा वतन / आत्मग्रस्त छिछलापन ही जैसे रह आया जीवन में शेष / प्यारे मंगलेश / अपने लोग फँसे रहे चीं-चीं-टुट-पुट में जीवन की / भीषणतम मुश्किल में दीन और देश। // उधर मेरे अपने लोग / बेघर बेदाना बेपानी बिना काम मेरे लोग / चिंदियों की तरह उड़े चले जा रहे हर ठौर / अपने देश की हवा में। // फिलहाल श्रवण सीमा से आगे इसीलिए अश्रव्य है / उनका क्षुब्ध हा-हाकार / घनीभूत और संगठित होनी है उनकी वेदना अभी / सुरती ठोंकता हुआ कर रहा हूँ मैं / प्रागैतिहासिक रात के बीतने का यही इंतजार। / फिलहाल तो यही हाल है मंगलेश / भीषणतम मुश्किल में दीन

और देश। / संशय खुसरों की बातों में / खुसरो की आँखों में डर है / इसी रात में अपना घर है।’43 नवल शुक्ल के अनुसार, ‘वह एक बार निकला दु:ख से / एक बार क्रोध और हताशा से / एक बार घृणा से और फतवा से / एक बार हर्ष से और उमंग से / एक बार गर्भ से और किलकारी से / एक बार उमंग से और असमंजस से / एक बार घर से और हर बार लौट आया।’44 विकास का रास्ता जो हमने पकड़ा वह शुरू से गलत था।कशुरु से गलत था मकान का नक्शा’।45 सही क्षेत्र में समुचित पूँजी निवेश के बदले ताम-झाम में अधि धन अपव्यय हुआ। बाबा कहते हैं, ‘ताम-झाम थे प्रजातंत्र के, लटका था सामंती ताला / मंत्री जी, इतनी जल्दी क्या आजादी का पिटा दिवाला / अजी आपको उस दिन मैंने नाहक ही पहनाई माला’।46 इस माला पहनाने का ही नतीजा है कि आज सु-जलां, सु-फलां देश को कबाड़ियों के हाथ र−द्दी माल की तरह बेचने के अलावे और किसी भी विकल्प के बचे होने की बात से जनतंत्र के पहरुए इनकार कर रहे हैं। सुनिये वीरेन उंगवाल से, ‘तोते क्यों पाले गये घरों में / कूड़ा डालने के काम क्यों लाये गये कनस्तर / रद्दीवाले ही आखिर क्यों बने हमारी आशा / बुरे दिनों में? / जरा सोचो, अक्सर वहीं क्यों जलायी गयी बत्तियाँ खूब / जहाँ उनकी सबसे कम जरूरत थी / जिन पर चलते हुए सबसे कम मनुष्य / आखिर क्यों वही सड़कें बनीं, चौड़ी-चकली? / खुशबुएँ बनाने का उद्योग / आखिर कैसे बन गया इतना भीमकाय / पसीना जब कि हो गया एक फटा हुआ उपेक्षित जूता / हमारे इस समय में / जबकि सबसे साबुत वही था। // इन नौजवानों से कैसे छीन लिया गया उनका धर्म / और क्यों भर जाने दिया उन्होंने अपने दिमाग में / सड़ा हुआ जटा-जूट-घास-पात? / कहाँ से चले आये ये गमले सुसज्जित कमरों के भीतर तक / प्रकृति की छटा छिटकाते / जबकि काटे जा रहे थे जंगल के जंगल / आदिवासियों को बेदखल करते हुए? // आखिर लपक क्यों लिया हमने ऐसी सभ्यता को / लालची मुफ्तखोरों की तरह? अनायास? / सोचो तो तारन्ता बाबू और जरा बताओ तो / काहे हुए चले जाते हो खमखाह / इतने निरुपाय ? ’47 ऐसे ही निरुपाय समय में कुँवर नारायण लौटना चाहते हैं , ‘अबकी अगर लौटा तो / हताहत नहीं / सबके हिताहित को सोचता / पूर्णतर लौटूँगा।’48 विनोद कुमार शुक्ल को यकीन है, ‘दुनिया में अच्छे लोगों की कमी नहीं है - / बार-बार यही कह रहा हूँ / और कितना समय बीत गया है / लौटकर मैं घर नहीं / घर-घर पहुँचना चाहता हूँ / और चला जाता हूँ।’49 आज तो घर के लोगों का ही घर से संबंध नहीं रहा और नीलेश रघुवंशी कहती हैं, ‘एक पुराना और सुंदर हंडा / भरा रहता जिसमें अनाज / कभी भरा जाता पानी / भरे थे इससे पहले सपने । /.... / टूटे न कोई / बिखरे न कोई / बचे रह सकें मासूम सपने / इसी उधेड़बुन में / सारे घर में लुढ़कता रहता है हंडा।’50 तब बहुत ही स्वाभाविक है कि वीरेन डंगवाल ऐसे घर में बुलाये जाने पर अपनी कुछ शर्तें रखते हैं, ‘अगर तुम्हारा कुत्ता कहना मानता हो / तभी मुझे अपने घर बुलाना।’51 माँएँ तो वैसे भी घर के माहौल में ऊँचा ही सुनती हैं। कहते हैं मदन कश्यप, ‘स्त्रियों ने रची हैं दुनियाँ की सभी लोक कथाएँ / उन्हीं के कंठ से फूटे हैं सारे लोकगीत / गुमनाम स्त्रियों ने ही दिए हैं / सितारों को उनके नामक 52 / और ‘जितना बड़ा होता है घर / उतना ही छोटा होता है स्त्री का कोना’।53

भगवान संस्कृति और कविता की निर्मिति हैं। वीरेन डंगवाल की कविता भगवान से बात करती है, ‘कमाल है तुम्हारी कारीगरी भगवान, / क्या-क्या ना दिया, बना दिया क्या से क्या! //--// यह जरूर समझ में नहीं आता / कि फिर क्यों बन्द कर दिया तुमने / अपना इतना कामयाब कारखाना? नहीं निकली नदी कोई पिछले चार-पाँच सौ साल से / जहाँ तक मैं जानता हूँ / न बन पाया कोई पहाड़ अथवा समुद्र / एकाध ज्वालामुखी जरूर फूटते दिखाई दे जाते हैं / कभी-कभार। / बाढ़ें तो आयीं खैर भरपूर, काफी भूकंप, तूफान / खून से लबालब हत्याकांड अलबत्ता हुए खूब / खूब अकाल, युद्ध एक सक एक तकनीकी चमत्कार / रह गयी सिर्फ सिर्फ एक सी भूख, लगभग एक सी फौजी / वर्दियाँ जैसे / मनुष्य मात्र की एकता को प्रमाणित करने के लिए / एक जैसी हुँकार, हाहाकार। / प्रार्थनागृह जरूर उठाये गये एक से एक आलीशान। / मगर भीतर चिने हुए हुए रक्त के गारे से / वे खोखले आत्महीन शिखर-गुंबद-मीनार / उँगली से छूते ही जिन्हें रिस आता है खून! / आखिर यह किनके हाथों सौंप दिया है ईश्वर / तुमने इतना बड़ा कारोबार? // अपना कारखाना बंद करके / किस घोंसले में जा छिपे हो भगवान? / कौन-सा है आखिर, वह सातवाँ आसमान ? / हे, अरे, अबे, ओ करुणानिधान !! ’54

बावजूद इसके, प्रमोद कौंसवाल की 'रूपिन से होकर एक पुल गुजरता है / सूपिन में बहता है ठंडे बांज-बुरांस का पानी / दोनों कभी नहीं सूखी / और गर्मी में तो / उनमें बहा ज्यादा पानी ज्यादा ठंडा / वे जैसी-जैसी बड़ी होती गई / और टौंस बन गई / उनमें कई तरह से व्यापार बढ़ा। / जैसे पेड़ बहाने की वे राह बनी। / रेलवे लाइनें बिछी इस तरह। आप ऐश करते होंगे कहीं। / गूजर का बेटा इसी / संगम पर बैठा है / बचपन में मेरे दिनों की तरह।'55 भूमंडलीकरण के दौर में रोजगारहीन वृद्धि से विकास की यह कैसी तस्वीर बनती है, 'दुनिया एक गाँव तो बने / लेकिन सारे गाँव बाहर रहें उस दुनिया के / यह कंप्यूटर कारामात हो। // कितने अभागे हैं वे पुल / जो सिर्फ गलियारे हैं / जिनके नीचे से गुजरती नहीं / कोई नदी।'56 लेकिन सरकारी दरबार में सब कुछ ठीक-ठाक का राग बजाया जा रहा है! प्रमाण यह कि खतरा की सूचनादेनेवाले सारे निशान निरर्थक और भ्रामक घोषित हो चुके हैं। 'डोमाजी उस्ताद सुधर चुके / और विधानसभा भी कभी की वातानुकूलित की जा चुकी / मान लिया भद्र लोगो, कोई खतरा नहीं बाकी बचा / हड्डी-खोपड़ीविहीन वह शुभ दिन / आ ही गया आखिर हमारे देश में।'57

'इस पृथ्वी पर / एक मनुष्य की तरह / मैं जीना चाहता हूँ //..// किंचित विनम्रता / किंचित अकड़ / और मित्र हँसी के साथ / बेहतर सृष्टि के लिए / मैं एक पके फल की तरह टपकना चाहता हूँ / जिसे लपकने के लिए / झुक जाएँ एक साथ / असंख्य नन्हे-नन्हे हाथ / अधूरी लड़ाई बढ़ाने के लिए / फल रस की तरह / मैं उनके रक्त में घुल जाना चाहता हूँ // मैं एक मनुष्य की तरह मरना चाहता हूँ।'58 विनोद दास की इच्छा कवि और कविता की ही इच्छा नहीं, हर नागरिक के सामाजिक-मन की इच्छा है। कवि और कविता आज अपने रक्त में घुलने की चुनौती के भी सामने खड़ा है। अधूरी लड़ाई को बढ़ाने के लिए उसे भी तो तैयार होना है! नहीं तो अकाल होंगे। भयानक अकाल! इस अकाल की चपेट में गाँव-जेवार ही नहीं राजधानी भी पड़ेंगे और रघुवीर सहाय पूछेंगे, 'कितनी दूर, कितनी दूर राजधानी से अकाल'।59 ऐसा अकाल कि बंजर का दिखकर कहेंगे प्रमोद कौंसवाल, 'हर साल / अकाल के बाद / यहाँ भाँग पैदा होती है / कभी-कभी मंदिर मस्जिद / बनाने की बातें भी चली हैं।'60 अनूप सेठी महसूस करते हैं, 'आदमियों ने नहीं छोड़ा धरती को अपने लायक // कोई उठा ले / किसी दूसरे ग्रह पर रख आए / पृथ्वी को संभाल कर।क 61 बंजर बना दी गई है, धरती ही नहीं, पृथ्वी ! 'नश्वर है यह पृथ्वी // यहाँ द्रास है कारगिल है / सियाचिन है / इससे ज्यादा सुरक्षित कहाँ है पृथ्वी / इसके एक छोर पर मोनिका में सना / मौत के दानवों को भीख की / तश्तरियों में बाँटता ह्वाइट हाउस है / दूसरे पर दिल्ली के शराबखाने से मूतकर / बैठा धोतीधारी है / मथुरा की रंडियों / और अयोध्या के पंडों से घिरी संसद है / इससे ज्यादा पवित्र कहाँ है पृथ्वी'।62 संसद को गैर-जनतंत्रीय दुष्टताओं की अपवित्र घेरेबंदी से मुक्त कराने में कवि और कविता दोनों की भूमिका अपेक्षित और प्रतीक्षित है। संसद के इस अपवित्र घेरेबंदी में फँस जाने के कारण रोजी-रोटी की तलाश में घर से निकले आदमी की हालत बताती हैं नीलेश रघुवंशी, 'वह उदास बहुत रहता था / न गाँव जाता और / न शहर को अपना समझता था।'63 कहते हैं राजेश जोशी, 'यही है हमारे समय का एक सबसे पूरा बिंब / और एक दिलचस्प प्रहसन भी / कि जो जगह भरी होती थी कभी खूबसूरत शब्दों से / वहाँ अब चमकदार जूते भरे हैं / और उनमें न किसी यात्रा की धूल है / न किसी पाँव के पसीने की गंध'।64 कवि की दशा क्या है? बहुत ही दर्द से सुनाते हैं रघुवीर सहाय, '...पढ़ता जाता था और रोता जाता था मैं / क्षण भर में सहसा पहचाना / यह पढ़ता कुछ और हूँ / रोता कुछ और हूँ / दोनो जुड़ गये हैं पढ़ना किताब का / और रोना मेरे व्यक्ति का / / लेकिन मैंने जो पढ़ा था / उसे नहीं रोया था ... '।65 जो रोता है वह बमुश्किल इत्यादि में ही शामिल हो पाता है। 'कुछ लोगों के नामों का उल्लेख किया गया था जिनके ओहदे थे / बाकी सब इत्यादि थे /...// इत्यादि सब जगह शामिल थे पर उनके नाम कहीं भी / शामिल नहीं हो पाते थे/ इत्यादि बस कुछ सिरफिरे कवियों की कविताओं में / अक्सर दिख जाते थे।'66

सहज ही लक्षित किया जा सकता है कि 21 वीं सदी में सामाजिक मनोभाव में काफी बदलाव आया है। यह बदलाव

मनुष्य की बाहरी दुनिया से तो संबंधित है ही, उसकी आंतरिक दुनिया से भी संबंधित है। बाहर और भीतर के इस तीव्र बदलाव में कुछ मान्यताएँ टूट रही हैं, छूट रही हैं तो कुछ नई मान्यताएँ आकार भी ग्रहण कर रही हैं। बदलाव की इस प्रक्रिया में उत्पन्न नित नई चुनौतियों से समाज अपनी संगति बिठाने के लिए निरंतर जूझ रहा है। समाज की चुनौतियाँ ही साहित्य की भी चुनौतियाँ होती हैं। यह जरूर है कि उन चुनौतियों का कुछ खास पक्ष साहित्य से संबद्ध होता है। शंभुनाथ ठीक ही कहते हैं, 'कविता में जातीय काव्यात्मकता और कवि में जुझारू सामाजिकता की वापसी के बिना 21 वीं सदी में कविता शायद ही साँस ले पाए।'67 समाज के अन्य विभाग सामाजिक चुनौतियों से जूझने के लिए जो उपक्रम करते हैं, उनकी संगति में भी साहित्य को देखा जा सकता है। इस कठिन समय में चुनौतियों से जूझने को देखना और दिखलाना भी साहित्य का दायित्व है। समझदार लोग इन चुनौतियों को कहाँ सुन पाते हैं! उन के के मन को अरुणकमल पढ़ते हैं, 'इस तेज बहुत तेज चलती पृथ्वी के अन्धड़ में / जैसे मैं बहुत सारी आवाज नहीं सुन रहा हूँ / वैसे ही तो होंगे वे लोग भी जो सुने नहीं पाते गोली चलने की आवाज ताबाड़तोड़ / और पूछते हैं - कहां है पृथ्वी पर चीख'68। समाज के पास जूझने के लिए कई औजार और उपाय हैं। साहित्य इन में से एक है। 'इस संपूर्ण मनुष्य-सत्ता का निर्माण करने का एक मात्र मार्ग राजनीति है, जिसका सहायक साहित्य है। तो वह राजनैतिक पार्टी जनता के प्रति अपना कर्तव्य नहीं पूरा करती, जो कि लेखक के साहित्य-निर्माण को व्यक्तिगत उत्तरदायित्व कहकर टाल देती है।'69 इस स्थिति में लेखक का काम बहुत कठिन है। ऐसे कठिन समय में विकल्पों की तलाश में रघुवीर सहाय का अनुभव हमारे कुछ काम का तो हो ही सकता है। वे कहते हैं, 'इस स्थिति में सबसे आसान यह पड़ता है कि व्यक्ति-स्वतंत्र्य की अभी तक बची सुविधा का फायदा उठाकर मैं अपने लिए बचे रहने की निजी, बिल्कुल अहस्तांतरणीय रियायत ले लूँ। उससे कुछ मुश्किल यह है कि मैं यह रियायत अस्वीकार करूँ और उनके आसरे, जिंदा रहूँ जो इन्सान के लिए दूसरे हथियारों से लड़ते हैं – साहित्येतर हथियारों से ! सबसे मुश्किल और एक ही सही रास्ता है कि मैं सब सेनाओं में लड़ूँ -- किसी में ढाल सहित किसी में निष्कवच होकर -- मगर अपने को अंत में मरने सिर्फ अपने मोर्चे पर दूँ -- अपने भाषा के,शिल्प के और और उस दोतरफा जिम्मेवारी के मोर्चे पर जिसे साहित्य कहते हैं।'70

साहित्य की सबसे संवेदनशील विधा का नाम कविता है। समाज की हलचल के संवेदनात्मक प्रतिफलन के कुछ सबूत कविता में भी हो सकते हैं। इस लिहाज से पिछले दिनों प्रकाशित कुछ कविता संग्रहों, खासकर 'दुश्चक्र में स्रष्टा' - वीरेन डंगवाल, 'इस तरह एक अध्याय' - नवल शुक्ल, 'रूपिन-सूपिन' - प्रमो कौंसवाल और 'जगत में मेला'- अनूप सेठी, को पढ़ते हुए मन में ये विचार पकते रहे। बार-बार यह भी लगता रहा कि कविता का वर्तमान ढाँचा अब ना-काफी ठहर रहा है। कविता को नये ढाँचे की जोरदार तलाश है। आज विधाओं के अतिक्रमण से नई-नई विधाओं के ढाँचों के जन्म की अननंत संभावनाएँ बन रही है। पहले की महत्त्वपूर्ण कृतियों में कहानी, काव्य, गीत, नाटक, आलोचनात्मक विचार अर्थात आज के साहित्य की सभी विधाओं, के सार संघनित होकर पाठक को एक साथ प्रभावी ढंग से उपलब्ध होते हैं। यह कैसे होगा? इसके समुचित समाधान के लिए तो कवि को ही रचनात्मक संघर्ष करना होगा। निश्चित ही कवि भी इस दिशा में कुछ-न-कुछ सोचते होंगे, 'पर बच्चा तो अभी दोस्त के साथ उड़ रहा है / वह पार कर रहा है जंगल, पहाड़ / और ढेर सारे जंगल और ढेर सारे पहाड़ / अभी उसके पास रुक कर / कहानी सुनने का समय कहाँ है।'71

संदर्भ:

1 नागार्जुन रचनावली -2 : अब तक छिपे हुए थे उनके दाँत और नाखून :पुरानी जूतियों का कोरस / जनशक्ति, 7 और 21

सितंबर 1969
2 नीम रोशनी में : नीम रोशनी में : मदन कश्यप
3 गंगा वर्णन : विद्यापति
4 इस तरह का एक अध्याय : इस तरह एक अध्याय : नवल शुक्ल
5 समाज और साहित्य : मुक्तिबोध रचनावली, भाग - 5
6 कलात्मक अनुभव : मुक्तिबोध रचनावली, भाग - 5
7 मार्क्सवादी साहित्य का सौंदर्य पक्ष : मुक्तिबोध रचनावली : भाग - 5
8 एक कविता सुना रहा था : इस तरह एक अध्याय : नवल शुक्ल
9 समसामयिक सांस्कृतिक गतिविधि और साहित्यिक समीक्षा : आलोचना और आलोचना : देवीशंकर अवस्थी।
10 समन्वय के लिए संघर्ष चाहिए : मुक्तिबोध रचनावली, भाग -5
11 समझौता : एक समय था : रघुवीर सहाय
12 जनता का साहित्य किसे कहते हैं (नया खून, फरवरी 1953 में प्रकाशित) : मुक्तिबोध रचनावली, भाग -5
13 मानव विकास रिपोर्ट : 2002
14Globlization and its Discontents : Joseph Stiglitz
15 हिंदी साहित्य का इतिहास : आचार्य रामचंद्र शुक्ल
16 एक मित्र की पत्नी का प्रश्न चिह्न :मुक्तिबोध रचनावली : 4
17 लोकतंत्र का संकट : एक समय था : रघुवीर सहाय
18 हर पल नागरिक : इस तरह एक अध्याय : नवल शुक्ल
19 बीमार : जगत में मेला : अनूप सेठी
20 मुक्तिबोध रचनावली : भाग - 5
21 साहित्य में प्रगतिशील आंदोलन की ऐतिहासिक भूमिका (1974) : डॉ. नामवर सिंह
22 कविता का पुनर्निर्माण : वर्तमान साहित्य शताब्दी कविता अंक : डॉ. शंभुनाथ
23 अतिरिक्त नहीं : तथा : विनोद कुमार शुक्ल
24 आवाज भी एक जगह है : खुशी कैसा दुर्भाग्य : मंगलेश डबराल
25 हमारा समाज : दुश्चक्र में स्रष्टा : वीरेन डंगवाल
26 यात्रा करते पिता : घर-निकासी : नीलेश रघुवंशी
27 पिता की पीठ : घर-निकासी : नीलेश रघुवंशी
28 मुक्तिबोध
29 हम जो देखते हैं : पिता की तस्वीर : मंगलेश डबराल
30 इन दिनों मैं : इस तरह एक अध्याय : नवल शुक्ल
31 छोटी नींद और सपने : दो पंक्तियों के बीच : राजेश जोशी
32 नींद में चलनेवाला आदमी : दो पंक्तियों के बीच : राजेश जोशी
33 हत्यारे : घर-निकासी : नीलेश रघुवंशी
34 दुश्चक्र में स्रष्टा : हमारी नींद :वीरेन डंगवाल
35 लोकतांत्रिक रास्तों और जगहों पर : इस तरह एक अध्याय : नवल शुक्ल
36 अतिरिक्त नहीं : विनोद कुमार शुकल
37 इसमें कुछ ईश्वर सा : इस तरह एक अध्याय : नवल शुक्ल

38 मैं नास्तिक नहीं नाराज हूँ : रूपिन-सूपिन : प्रमोद कौंसवाल
39 गड्ढों के आसपास : रूपिन-सूपिन : प्रमोद कौंसवाल
40 राम की शक्तिपूजा : निराला
41 दुश्चक्र में स्रष्टा : फैजाबाद-अयोध्या (फिर निराला को) :वीरेन डंगवाल
42 दुश्चक्र में स्रष्टा : उजले दिन जरूर :वीरेन डंगवाल
43 दुश्चक्र में स्रष्टा : रात गाड़ी (मंगलेश को एक चिट्ठी) :वीरेन डंगवाल
44 वह एक बार : इस तरह एक अध्याय : नवल शुक्ल
45 आत्मा का रोकड़ : नए इलाके में : अरुणकमल
46 मास्टर ! : चुनी हुई रचनाएँ -2 : नागार्जुन
47 तारंता बाबू से कुछ सवाल : दुश्चक्र में स्रष्टा : वीरेन डंगवाल
48 अबकी अगर लौटा तो : कोई दूसरा नहीं : कुँवर नारायण
49 अतिरिक्त नहीं : विनोद कुमार शुक्ल
50 हंडा : घर-निकासी : नीलेश रघुवंशी
51 अधेड़ नैनीताल उधेड़बुन : दुश्चक्र में स्रष्टा : वीरेन डंगवाल
52 गोलबंद स्त्रियों की नज्म : नीम रोशनी में : मदन कश्यप
53 लड़की का घर : नीम रोशनी में : मदन कश्यप
54 दुश्चक्र में स्रष्टा : दुश्चक्र में स्रष्टा :वीरेन डंगवाल
55 रूपिन और सूपिन : रूपिन-सूपिन : प्रमोद कौंसवाल
56 मार्च की एक शाम में आईआईटी कानपुर एक दिन : दुश्चक्र में स्रष्टा : वीरेन डंगवाल
57 हड्डी खोपड़ी खतरा निशान : दुश्चक्र में स्रष्टा : वीरेन डंगवाल
58 भीड़ में मैकू और मैं : आत्महत्या के विरुद्ध : रघुवीर सहाय
59 अंतिम इच्छा : वर्णमाला से बाहर : विनोद दास
60 बंजर : रूपिन-सूपिन : प्रमोद कौंसवाल
61 कोई उठा ले पृथ्वी को : जगत में मेला : अनूप सेठी
62 पृथ्वी 2000 : रूपिन-सूपिन : प्रमोद कौंसवाल
63 उदास : यात्रा करते पिता : घर-निकासी : नीलेश रघुवंशी
64 अहद होटल अजमल कमाल : दो पंक्तियों के बीच : राजेश जोशी
65 किताब पढ़कर रोना : एक समय था : रघुवीर सहाय
66 इत्यादि : दो पंक्तियों के बीच : राजेश जोशी
67 कविता का पुनर्निर्माण : वर्तमान साहित्य शताब्दी कविता अंक : डॉ. शंभुनाथ
68 जैसे : नये इलाके में : अरुणकमल
69 जनता का साहित्य किसे कहते हैं (नया खून, फरवरी 1953 में प्रकाशित) : मुक्तिबोध रचनावली, भाग -5
70 वक्तव्य का अंश : आत्महत्या के विरुद्ध : रघुवीर सहाय
71 बच्चा अभी दोस्त के साथ उड़ रहा है : इस तरह एक अध्याय : नवल शुक्ल